

परीक्षा

(१) हरि कानोबा (२) सोमदेव स्वामी (३) नानासाहेब चाँदोरकर की कथाएँ।

प्रस्तावना

जब वेद और पुराण ही ब्रह्म या सद्गुरु का वर्णन करने में अपनी असमर्थता प्रगट करते हैं तब मैं एक अल्पज्ञ प्राणी अपने सद्गुरु श्री साईबाबा का वर्णन कैसे कर सकता हूँ ? मेरा स्वयं का तो यह मत है कि इस विषय में मौन धारण करना ही अति उत्तम है। सच पूछा जाय तो मूक रहना ही सद्गुरु की विमल पताकारुपी विरुदावली का उत्तम प्रकार से वर्णन करना है। परन्तु उनमें जो उत्तम गुण हैं, वे हमें मूक कहाँ रहने देते हैं? यदि स्वादिष्ट भोजन बने और मित्र तथा सम्बन्धी आदि साथ बैठकर न खाएँ तो वह नीरस-सा प्रतीत होता है और जब वही भोजन सब एक साथ बैठकर खाते हैं, तब उसमें एक विशेष प्रकार की सुस्वादुता आ जाती है। वैसी ही स्थिति साईलीलामृत के सम्बन्ध में भी है। इसका एकांत में रसास्वादन कभी नहीं हो सकता। यदि मित्र और पारिवारिक जन सभी मिलकर इसका रस लें तो और अधिक आनन्द आ जाता है। श्री साईबाबा स्वयं ही अंतःप्रेरणा कर अपनी इच्छानुसार ही इन कथाओं को मुझसे वर्णित करा रहे हैं। इसलिए हमारा तो केवल इतना ही कर्तव्य है कि अनन्यभाव से उनके शरणागत होकर उनका ही ध्यान करें। तप साधन, तीर्थ यात्रा, व्रत एवं यज्ञ और दान से हरिभक्त श्रेष्ठ है और सद्गुरु का ध्यान इन सबमें परम श्रेष्ठ है। इसलिए सदैव मुख से साईनाम का स्मरण कर उनके उपदेशों का निदिध्यासन एवं स्वरूप का चिन्तन कर हृदय में उनके प्रति सत्य और प्रेम के भाव से समस्त चेष्टाएँ उनके ही निमित्त करनी चाहिए। भवबन्धन से मुक्त होने का इससे उत्तम साधन और कोई नहीं। यदि उपर्युक्त विधि से कर्म करते जायें तो साई को विवश होकर हमारी सहायता कर हमें मुक्ति प्रदान करनी ही पड़ेगी। अब इस अध्याय की कथा श्रवण करें।

हरि कानोबा

बम्बई के हरि कानोबा नामक एक महानुभाव ने अपने कई मित्रों और संबन्धियों से साई बाबा की अनेक लीलाएँ सुनी थी, परन्तु उन्हें विश्वास ही न होता था; क्योंकि वे संशयालु प्रकृति के व्यक्ति थे। अविश्वास उनके हृदयपटल पर अपना आसना जमाएँ हुए था। वे स्वयं बाबा की परीक्षा करने का निश्चय करके अपने कुछ मित्रों सहित बम्बई से शिरडी आये। उन्होंने सिर पर एक जरी की पगड़ी और पैरों में नए सैंडिल पहिन रखे थे। उन्होंने बाबा को दूर से ही देखकर उनके पास जाकर उन्हें प्रणाम तो करना चाहा, परन्तु उनके नये सैंडिल इस कार्य में बाधक बन गए। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि अब क्या किया जाए। तब उन्होंने अपने सैंडिल मंडप के एक सुरक्षित कोने में रखे और मस्जिद में जाकर बाबा के दर्शन किए। उनका ध्यान सैंडिलों पर ही लगा रहा। उन्होंने बड़ी नम्रतापूर्वक बाबा को प्रणाम किया और उनसे प्रसाद और उदी प्राप्त कर लौट आए। पर जब उन्होंने कोने में दृष्टि डाली तो देखा कि सैंडिल तो अंतर्द्धान हो चुके हैं। पर्याप्त छानबीन भी व्यर्थ हुई और अन्त में निराश होकर वे अपने स्थान पर वापस आ गए।

स्नान, पूजन और नैवेद्य आदि अर्पित करके वे भोजन करने को तो बैठे, परन्तु वे पूरे समय तक उन सैंडिलों के चिन्तन में ही निमग्न रहे। भोजन कर मुँह-हाथ धोकर जब वे बाहर आए तो उन्होंने एक मराठा बालक को अपनी ओर आते देखा, जिसके हाथ धोने के लिए बाहर आने वाले लोगों से कहा कि बाबा ने मुझे यह डण्डा हाथ में देकर रास्तों में घूम-घूम कर "हरि का बेटा जरी का फेंटा" की पुकार लगाने को कहा है तथा जो कोई कहे कि सैंडिल हमारे हैं, उससे पहले यह पूछना कि क्या उसका नाम हरि और उसके पिता का 'क' (अर्थात् कानोबा) हैं? साथ ही यह भी देखना कि वह जरीदार साफा बाँधे हुए हैं, या नहीं, तब इन्हें उसे दे देना। बालक का कथन सुनकर हरि कानोबा को बेहद आनन्द व आश्चर्य हुआ। उन्होंने आगे बढ़कर बालक से कहा कि ये हमारे

श्री साईबाबांच्या शुभाशिर्वादासह

ही सॅडिल हँ, मेरा ही नाम हरि और मैं ही 'क' (कानोबा) का पुत्र हूँ । यह मेरा जरी का साफा देखा । बालक सन्तुष्ट हो गया और सॅडिल उन्हें दे दी। उन्होंने सोचा कि मेरी जरीदार पगड़ी तो सब को ही दिख रही थी। हो सकता है कि बाबा की भी दृष्टि में आ गई हो। परन्तु यह मेरी शिरड़ी-यात्रा का प्रथम अवसर है, फिर बाबा को यह कैसे विदित हो गया कि मेरा ही नाम हरि है और मेरे पिता का कानोबा? वह तो कवल की परीक्षार्थ वहाँ आया था। उसे इस घटना से बाबा की महानता विदित हो गई । उसकी इच्छा पूर्ण हो गई और वह सहर्ष घर लौट गया।

सोमदेव स्वामी

अब एक दूसरे संशयालु व्यक्ति की कथा सुनिए, जो बाबा की परीक्षा करने आया था। काकासाहेब दीक्षित के भ्राता श्री. भाईजी नागपुर में रहते थे। जब वे सन् १९०६ में हिमालय गए थे, तब उनका गंगोत्री घाटी के नीचे हरिद्वार के समीप उत्तर काशी में एक सोमदेव स्वामी से परिचय हो गया। दोनों ने एक दूसरे के पते लिख लिये। पाँच वर्ष पश्चात् सोमदेव स्वामी नागपुर में आए और भाईजी के यहाँ ठहरे । वहाँ श्री साईबाबा की कीर्ति सुनकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई तथा शिरड़ी जाकर बाबा के दर्शन करने की तीव्र उत्कंठा हुई । मनमाड़ और कोपरगाँव निकल जाने पर वे एक ताँगे में बैठकर शिरड़ी को चल पड़े। शिरड़ी के समीप पहुँचने पर उन्होंने दूर से ही मस्जिद पर दो ध्वज लहराते देखे। सामान्यतः देखने में आता है कि भिन्न-भिन्न सन्तों का बर्ताव, रहन-सहन और बाह्य सामग्रियाँ प्रायः भिन्न प्रकार की ही रहा करती हैं। परन्तु केवल इन वस्तुओं से ही सन्तों की योग्यता का आकलन कर लेना बड़ी भूल है। सोमदेव स्वामी कुछ भिन्न प्रकृति के थे। उन्होंने जैसे ही ध्वजों को लहराते देखा तो वे सोचने लगे कि बाबा सन्त होकर इन ध्वजों में इतनी दिलचस्पी क्यों रखते हैं? क्या इससे उनका सन्तपन प्रकट होता है? ऐसा प्रतीत होता है कि यह सन्त अपनी कीर्ति का इच्छुक है। अतएव उन्होंने शिरड़ी जाने का विचार त्याग कर अपने सहयात्रियों से कहा कि मैं तो वापस लौटना चाहता हूँ । तब वे लोग कहने लगे कि फिर व्यर्थ ही इतनी दूर क्यों आए? अभी केवल ध्वजों को देखकर तुम इतने उद्विग्न हो उठे हो तो जब शिरडी में रथ, पालकी, घोड़ा और अन्य सामग्रियाँ देखोगे, तब तुम्हारी क्या दशा होगी? स्वामी को अब और भी अधिक घबराहट होने लगी और उसने कहा कि मैंने उनका साधु-सन्तों के दर्शन किए हैं, परन्तु यह सन्त कोई विरला ही है, जो इस प्रकार ऐश्वर्य की वस्तुएँ संग्रह कर रहा है। ऐसे साधु के दर्शन न करना ही उत्तम है, ऐसा कहकर वे वापस लौटने लगे। तीर्थयात्रियों ने प्रतिरोध करते हुए उन्हें आगे बढ़ने की सलाह दी और समझाया कि तुम यह संकुचित मनोवृत्ति छोड़ दो। मस्जिद में जो साधु हैं, वे इन ध्वजाओं और अन्य सामग्रियों या अपनी कीर्ति का स्वप्न में भी सोचविचार नहीं करते। ये सब तो उनके भक्तगण प्रेम और भक्ति के कारण ही उनको भेंट किया करते हैं। अन्त में वे शिरड़ी जाकर बाबा के दर्शन करने को तैयार हो गए। मस्जिद के मंडप में पहुँच कर तो वे द्रवित हो गए । उनकी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी और कंठ रुँध गया। अब उनके सब दूषित विचार हवा हो गए और उन्हें अपने गुरु के शब्दों की स्मृति हो आई कि **“मन जहाँ अति प्रसन्न और आकर्षित हो जाय, उसी स्थान को ही अपना विश्रामधाम समझना।”** वे बाबा की चरण-रज में लोटना चाहते थे, परन्तु जब वे उनके समीप गए तो बाबा एकदम क्रोधित होकर जोर-जोर चिल्लाकर कहने लगे कि **“हमारा सामान हमारे ही साथ रहने दो, तुम अपने घर वापस लौट जाओ। सावधान। यदि फिर कभी मस्जिद की सीढ़ी चढ़े तो। ऐसे संत के दर्शन ही क्यों करना चाहिए, जो मस्जिद पर ध्वजाएँ लगाकर रखे? क्या ये सन्तपन के लक्षण हैं? एक क्षण भी यहाँ न रुको।”** अब उसे अनुभव हो गया कि बाबा ने अपने हृदय की बात जान ली है और वे कितने सर्वज्ञ हैं! उसे अपनी योग्यता पर हँसी आने लगी तथा उसे पता चल गया कि बाबा कितने निर्विकार और पवित्र हैं। उसने देखा कि वे किसी को हृदय से लगाते और किसी को हाथ से स्पर्श करते हैं तथा किसी को सान्त्वना देकर प्रेमदृष्टि से निहारते हैं। किसी को उदी प्रसाद देकर सभी प्रकार से भक्तों को सुख और सन्तोष पहुँचा रहे हैं तो फिर मेरे साथ ऐसा रुक्ष बर्ताव क्यों ? अधिक विचार करने पर वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि इसका कारण मेरे आन्तरिक विचार ही थे और इससे शिक्षा ग्रहण कर मुझे अपना आचरण सुधारना चाहिए। बाबा का क्रोध तो मेरे लिए वरदानस्वरूप है । अब यह कहना व्यर्थ ही होगा कि वे बाबा की शरण में आ गए और उनके एक परम भक्त बन गये।

नानासाहेब चाँदोरकर

अन्त में नानासाहेब चाँदोरकर की कथा लिखकर हेमाङ्गंत ने यह अध्याय समाप्त किया है। एक समय जब नानासाहेब, म्हालसापति और अन्य लोगों के साथ मस्जिद में बैठे हुए थे तो बीजापुर से एक सम्भ्रान्त यवन परिवार श्री साईबाबा के दर्शनार्थ आया। कुलवन्तियों की लाजरक्षण भावना देखकर नानासाहेब वहाँ से निकल जाना चाहते थे, परन्तु बाबा ने उन्हें रोक लिया। स्त्रियाँ आगे बढ़ीं और उन्होंने बाबा के दर्शन किये। उनमें से एक महिला ने अपने मुँह पर से घूँघट हटाकर बाबा के चरणों में प्रणम कर फिर घूँघट डाल लिया। नानासाहेब उसके

श्री साईबाबांच्या शुभाशिर्वादासह

सौंदर्य से आकर्षित हो गए और एक बार पुनः वह छटा देखने को लालायित हो उठे । नाना के मन की व्यथा जानकर उन लोगों के चले जाने के पश्चात् बाबा उनसे कहने लगे कि “ नाना, क्यों व्यर्थ में मोहित हो रहे हो? इन्द्रियों को अपना कार्य करने दो। हमें उनके कार्य में बाधक न होना चाहिए। भगवान् ने यह सुन्दर सृष्टि निर्माण की है। अतः हमारा कर्तव्य है कि हम उसके सौन्दर्य की सराहना करें । यह मन तो क्रमशः ही स्थिर होता है और जब सामने का द्वार खुला है, तब हमें पिछले द्वारे से क्यों प्रविष्ट होना चाहिए? चित्त शुद्ध होते ही फिर किसी कष्ट का अनुभव नहीं होता। यदि हमारे मन में कुविचार नहीं हैं तो हमें किसी से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं । नेत्रों को अपना कार्य करने दो। इसके लिये तुम्हें लज्जित तथा विचलित न होना चाहिए।” उस समय शामा भी वहीं थे। उनकी समझ में न आया कि आखिर बाबा के कहने का तात्पर्य क्या है? इसलिए लौटते समय इस विषय में उन्होंने नाना से पूछा । उस परम सुन्दरी के सौन्दर्य को देखकर जिस प्रकार वे मोहित हुए तथा यह व्यथा जानकर बाबा ने इस विषय पर जो उपदेश उन्हें दिए, उन्होंने उसका सम्पूर्ण वृत्तान्त उनसे कहकर शामा को इस प्रकार समझाया -“हमारा मन स्वभावतः ही चंचल है, पर हमें उसे लम्पट न होने देना चाहिए। इन्द्रियाँ चाहे भले ही चंचल हो जाएँ, परन्तु हमें अपने मन पर पूर्ण नियंत्रण रखकर उसे अशांत न होने देना चाहिए । इन्द्रियाँ तो अपने विषयपदार्थों के लिए सदैव चेष्टा किया ही करती हैं, पर हमें उनके वशीभूत होकर उनके इच्छित पदार्थों के समीप न जाना चाहिए। क्रमशः प्रयत्न करते रहने से इस चंचलता को नियंत्रित किया जा सकता है। यद्यपि उन पर पूर्ण नियंत्रण सम्भव नहीं है तो भी हमें उनके वशीभूत न होना चाहिये। प्रसंगानुसार हमें उनका वास्तविक रूप से उचित गति-अवरोध करना चाहिए। सौन्दर्य तो आँखें सेंकने का विषय है, इसलिये हमें निडर होकर सुन्दर पदार्थों की ओर देखना चाहिये। यदि हममें किसी प्रकार के कुविचार न आए तो इसमें लज्जा और भय की आवश्यकता ही क्या है। यदि मन को निरिच्छ बनाकर ईश्वर के सौन्दर्य को निहारो तो इन्द्रियाँ सहज और स्वाभाविक रूप से अपने वश में आ जाएँगी और विषयानन्द लेते समय भी तुम्हें ईश्वर की स्मृति बनी रहेगी । यदि उसे बाह्य इन्द्रियों के पीछे दौड़ने तथा उनमें लिप्त रहने दोगे तो तुम्हारा जन्म-मृत्यु के पाश से कदापि छुटकारा न होगा। विषयपदार्थ इन्द्रियों को सदा पथभ्रष्ट करने वाले होते हैं। अतएव हमें विवेक को सारथी बनाकर मन की लगाम अपने हाथ में लेकर इन्दिय रूपी घोड़ों को विषयपदार्थों की ओर जाने से रोक लेना चाहिए। ऐसा विवेक रूपी सारथी हमें विष्णु-पद की प्राप्ति करा देगा, जो हमारा यथार्थ में परम सत्य धाम है और जहाँ गया हुआ प्राणी फिर कभी यहाँ नहीं लौटता ।”

॥ श्री सद्गुरु साईनाथार्पणमस्तु । शुभं भवतु ॥